शाक्त-उपपुराणों में क्रिया विवेचन

तन्त्रशास्त्र तृतीय पाद : 'क्रियापाद' क्रियापाद में मूर्ति, मन्दिर आदि के निमार्ण की विधि का वर्णन किया गया है। चूँकि तन्त्रशास्त्र समाज को भी एक जीवन-पद्धति एवं एक धर्म प्रदान करता है,जिससे कि व्यक्ति और समाज दोनों मिलकर अपने समान ध्येय में सहभागी बन सके इस ध्येय के प्राप्त्यर्थ उसने समाजिक स्तर पर उपासना की संस्थायें, मन्दिर, याग, तीर्थयात्रा के पूण्यस्थल 'भैरवी' चक्र आदि का भी विधान किया है। इसका वर्णन क्रिया पाद में है।

नाम्ना विष्णुयशः पुत्रः कल्की राजा भविष्यति।

अश्वमारुह्य खड्गेनम्लेच्छानुत्सादयिष्यति।।[१]

उपपुराणों में प्रतिपादित सृष्टि विवेचन-और सर्गादि वर्णन

पुराणों-उपपुराणों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य है, जिसके अन्तर्गत सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। सृष्टि ि उत्पत्ति सम्बन्धी पुराणों -उपपुराणों का यह वर्णन प्रायः सांख्य-दर्शन के अनुसार हुआ है। उपपुराणों में भी इस विषय की चर्चा की गयी है। पराशरोपपुराण में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय पर विचार किया गया है। इस प्रकरण में प्राकृत सर्ग ,वैकृत सर्ग तथा कौमार सर्गों का वर्णन किया गया है। प्राकृत सर्ग में प्रथम महत्सर्ग कहलाता है। दूसरा भूत सर्ग कहलाता है जिसमें ५ तन्मात्राओं व्याख्या की गयी है।[२] महत्सर्ग के पश्चात् भूत सर्ग की उत्पत्ति होती है।

---

[१] मार्क.पुराण १५/२-३-४

[२] पराशरोपपुराण.अ.२श्लो. ५६

तीसरा इन्द्रिय सर्ग है जिसमें ५ कर्मेन्द्रियां,पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा संकल्प-विकल्पात्मक मन की चर्चा की गयी है। वैकृत सर्ग को ही प्राणी सर्ग भी कहते हैं जिसके अन्तर्गत वृक्षों,पशुओं की उत्पत्ति का वर्णन किया जाता है। इसी सर्ग में देव-सृष्टि का भी वर्णन पाय जाता है। इसमें चौथा मनुष्य सर्ग तथा ५वां अनुग्रह (भाव)सर्ग कहलाता है। प्रकृत और वैकृत सर्ग के योग से कौमार सर्ग की उत्पत्ति होती है। सनत्कुमार से सम्बन्ध होने के कारण भी इसे कौमार सर्ग कहा गया है। यह सृष्टि-रचना के क्रम में अन्तिम सर्ग होता है। पराशरोपपुराण में वर्णित सर्ग (सृष्टि) के क्रम आदि पर शैव दशन तथा सांख्य दर्शन दोनों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के प्रथम खण्ड के २-३ अध्यायों में सृष्टि ꠸ी उत्पत्ति,ब्रह्मा तथा रुद्र की उत्पत्ति के वर्णन के साथ-साथ भगवान् विष्णु द्वारा वराह-रूप में पृथ्वी की रक्षा का वर्णन भी किया गया है। इसी उपपुराण के चौथे पाँचवें अध्यायों में पाताल आदि लोकों तथा रुद्रलोक ,वरहलोक ,विष्णुलोक,भूलोक,भुवर्लोक आदि लोकों का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है।

नरसिंह पुराण के प्रारम्भ में ही पूरे भारत वर्ष से प्रयाग में एकत्र ऋषियों द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ और विकास सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर ऋषि लोमहर्षण उन्हें ब्रह्माण्ड की उत्पति के विषय में बताते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी यह वर्णन ही सांख्य-दर्शन में वर्णित सृष्टि की उत्पत्ति का ही अनुगामी है।

क्रियायोगसार उपपुराण के दूसरे अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि महाविष्णु के दाहिने,बायें और मध्य भाग से क्रमशः ब्रह्मा,विष्णु तथा रुद्र की उत्पत्ति हुई है।

आद्या प्रकृति ब्राह्मी,लक्ष्मी और अम्बिका के रूप में उत्पन्न होती है जो इन तीन देवों की सहायता के लिए जन्म लेती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों तत्त्वों की उत्पत्ति के साथ पृथ्वी-सहित सभी अन्यान्य लोकों की उत्पत्ति का भी वर्णन किया गया है। महर्षि भरद्वाज को सूत जी बतातें हैं कि महत्तत्त्व प्रथम सर्ग होता है।

दूसरा सर्ग तन्मात्राओं का तीसरा इन्द्रियों का सर्ग होता है जिसे वैकारिक सर्ग भी कहते हैं। चौथा मुख्य सर्ग है जिसमें स्थावर वृक्ष, गुल्म,लता आदि की उतपत्ति होती है। पाँचवां तिर्यक् स्रोत, छठा देव सर्ग,सातवां मानव सर्ग, आठवां अनुग्रह (सात्विक) सर्ग कहलाता है तथा ९वां रौद्र सर्ग होता है जिसे कौमार सर्ग भी कहते है। ये सभी सर्ग बह्मा जी द्वारा उत्पन्न किये गये है।

यह दृश्यमान जगत् किन-किन तत्त्वों से बना हुआ है और इनका पौर्वापर्य क्या है? सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई! कैसे हुइ? प्रलय कब होगा और कैसे होगा? इत्यादि रहस्यात्मक प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पुराणों के अतिरिक्त संसार की किसी भी धर्मपुस्तक में नहीं मिल सकता है।

आज से लाख वर्ष पहले क्या था? करोडो वर्ष प्रथम क्या था? अर्वों वर्ष पूर्व क्या था? इत्यादि प्रश्नों का यदि संतोषजनक उत्तर ढूढना होगा तो हमें पुराणों का ही पारायण करना होगा।

पुरणों में प्रधानतया सर्ग,प्रतिसर्ग,वंश,मन्वन्तर,और वंशानुचरित इन पाँच विषयों का विशेष विवेचन है। इन्हीं के प्रसंग में प्रायः अन्यतत्त्वों का भी विवेचन हो गया है। इसीलिए पुराणों का यह लक्षण किया गया है कि-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

यह लक्षण प्रायः प्रत्येक पुराण में घटता है। इसलिए इस प्रकरण में सर्वप्रथम क्रमशः इनका ही विचार किया गया है।

(१) सर्ग- साम्यावस्थापन्न प्रकृतितत्त्व के सत् रज एवं तम इन तीनों गुणों के क्षोभ से महतत्त्व और उससे अहंकार तत्त्व अहंकार से पञ्चतन्मात्रा एकादश इन्द्रिय पञ्चमहाभूत और तदधिष्ठात्री देवाताओं की उत्पत्ति को सर्ग कहते है।

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः।

भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यते।।[१]

संसार की सृष्टि हुए कितने वर्ष हो गये? इस प्रश्न को हम पुराणों के आधार पर ही हल कर सकते है; क्योंकि हिन्दुवों का कोई भी कर्म इस तत्त्व को जानकर ही शुरू होता है। हिन्दूजाति सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर आज तक नित्य नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों का अनुष्ठान करते समय नियम पूर्वक अवाध गति से ''ब्रह्मणोद्वीतीयपरार्द्धे श्री श्वेतवाराहकल्पे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथम चरणे........अमुक कर्म करिष्ये'' इत्यादि संकल्प पढकर सृष्टि गणना को ठीक-ठीक समझती चली आ रही है। इसका सारांश यह है कि ब्रह्मा की

---

[१] श्रीमद्भागवत १२/७/११

आयु ५०वर्ष बीत जाने पर दूसरे परार्द्ध के समय श्रीश्वेतवाराह कल्प और वैवस्वत नामक सप्तम मनु के समय अठाइसवें कलियुग के प्रथम भाग में मैं अमुक कर्म कर रहा हूँ।

गणित शास्त्र के अनुसार हिसाब करने पर सृष्टि के आरम्भ से लेकर विक्रमाब्द २०१५ मनुष्यों के वर्ष से एक अर्व सन्तानवे करोड उन्तीस लाख उन्चास हजार उन्सठ वर्ष बीत चुके है। इसका पूर्व विवरण इस प्रकार है-

(१) गत ६ मनुवों के व्यतीत वर्ष ।१८४०३२००००
(२) गत ६ मनुवों की संधियों का वर्ष । १२०९६०००
(३) सातवें मनु के गत २७ चतुर्युगों के वर्ष । ११६६४००००
(४) अठाइसवें चतुर्युग के भुक्त वर्ष । ३८९३०५९
योग = १९७२९४९०५९

सृष्टि के आरम्भ में अन्वेषण के आधार पर जहाँ वर्तमान विज्ञान अभी पाँच छः हजार वर्ष से तीस करोड तक ही पहुच पाया है वहाँ पौराणिक सृष्टि करीब-करीब दो अरव वर्ष पहले की है। यदि आधुनिक विज्ञान धीरे-धीरे इसी प्रकार उन्नती करता रहा तो सम्भव है कि कुछ समय में वह पुराणों के सिद्धान्त तक पहुच जाय। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्द में प्राकृत और वैकृत मेध से ९ प्रकार के सर्गों का वर्णन है। जिनका विवरण अभी आगे आ रहा है।

(२) प्रतिसर्ग

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्।।[१]

---

[१]श्रीमद्भागवत १२/७/१२

ईश्वर के अनुग्रह से महत्तत्त्व आदि में जो प्रलयपूर्वर्ती जीवों की कर्मवासनायें अवशिष्ट रहती हैं,उनसे स्थूल जगत् के समस्त के पदार्थों की जो उत्पत्ति होती है,उसे विसर्ग या प्रतिसर्ग कहते हैं।

जिस प्रकार जमीन के अन्दर अज्ञातरूप से पडे हुए वीजों से वरसात में अनेक प्रकार के लतागुल्म तृण आदि अपने आप प्रादुर्भूत हो जाते हैं उसी प्रकार वर्तमान सृष्टि के पूर्व सृष्टि में उत्पन्न जीवों के अवशिष्ट वासनामय समूह के संस्कार से पुनः सृष्टि रचना के समय विविध पदार्थ और उनके भोक्ता जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

विश्व के विभिन्न मतावलम्बियों के धर्मग्रन्थों में न तो सृष्टि के प्रथम सूक्ष्म तत्त्व के पौर्वापर्य का उल्लेख है, परन्तु संस्कृत साहित्य के धर्मग्रन्थ पुराणों में संसार के सूक्ष्म तत्त्व एवं स्थूल पदार्थों का पौर्वापर्य देखने लायक है-

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः।
द्वितीय स्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः।।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः।।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो?
षडिमाः प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे श्रृणु।।[१]

पहला सर्ग महत्तत्त्व है जो गुणों की विषमतामात्र है। दूसरा सर्ग अहंकार है,जिसमें द्रव्यज्ञान और क्रिया का उदय हुआ। तीसरा सर्ग सूक्ष्म भूत है,जो महाभूतों का उत्पादक है। चौथा ज्ञान और कर्मसाधक इन्द्रियों का सर्ग है,

[१] श्रीमद्भागवत ३/१०/१४-१७

पाँचवां इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतावों का और मन का सर्ग है, छठा तमः का सर्ग है , जो पाँच भेदों वाली अविद्या आवरण विक्षेप रूप से पुरुषों की बुद्धि को मुग्ध करती है। यह छः भेद प्राकृतिक सर्ग के हैं।

वैकृतसर्ग

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां चयः।

वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः।।

उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तः स्पर्शा विशेषिणः।

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशविधो मतः।

अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः।

गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः।

द्विरेफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तमः?

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमर तथा।

एते चैकशफाः क्षतः शृणु पञ्चनखान् पशून्।

श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।

सिंह कपि गर्जः कूर्मो गोघा च मकरादयः।

कंक गृध वकश्येन-भास-भल्लूक-बर्हिणः।

हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः।

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षतरेकविधो नृणाम्।

रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः।।[1]

सातवां सर्ग उद्भिज्जों का है जिसके छः भेद हैं। वनस्पति,ओषधि,लता,त्वक् सार (बांस)वीरुध् (कुष्माण्ड) और वृक्ष। ये नीचे से ऊपर को आहार खींचते हैं और इनकी चेतना स्पष्ट नहीं है। ये स्पर्श मात्र का भोग करने वाले हैं। आठवां सर्ग पशु और पक्षियों का है,जो कल क्या होगा?

इस ज्ञान से शून्य हैं, केवल भोजनमात्र का ज्ञान रखते हैं। नवां सर्ग मनुष्यों का हैजो ऊपर से नीचे की ओर आहार ग्रहण करते हैं,रजोगुण प्रधान हैं, निरन्तर कार्य करनेवाले हैं और दुःख में सुखमानने वाले हैं।

सृष्टि कैसे होती है- सृष्टि के आरम्भकाल से लेकर मनुष्य सृष्टि होने तक कितना समय लगा और इसी बीच में पृथ्वी किस-किस रूप में परिणत हुई है? इस रहस्य का वर्णन पुराणों में बडे तर्कपूर्ण ढंग से हुआ है। सर्वप्रथम प्रधान से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ उससे अहंकार तत्त्व उत्पन्न हुआ उससे सूक्ष्म भूतों का विकास हआ। बाद में वे ही सूक्ष्मभूत,स्थूलभूत के रूप में परिणत हो गये। इस प्रकार का वर्णन भागवत में भी मिलता है-

नभसोऽनुसृतं स्पर्शो विकुर्वन् निर्ममेऽमिलम।
अनिलो हि विकुर्वाणो नभसोरुवलान्वितः।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम।
अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुवत्परवीक्षितम्।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः।
ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद् ब्रह्मवीक्षितम्।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः।।[1]

[1] श्रीमद्भागवत ३/१०/१८-२५

तात्पर्य यह है कि विकार को प्राप्त हुआ आकाश स्पर्शदशा को प्राप्त होता है। वह स्पर्श जब अधिक विकार वाला हो जाता है तब वायु बन जाता है। वह वायु भी आकाश से युक्त अनेक रूपों में शक्तिमान होकर रूप की दशा में पहुँचता है और फिर उससे तेज रस गुणवाले जल को उत्पन्न करता है,वह जल भी ब्रह्मद्वारा अवलोकन किया हुआ तेज से विमिश्रित होकर गन्ध गुण वाली पृथ्वी को पैदा करता है। इस प्रकार गन्ध रूप रस स्पर्श और शब्द इन पाँचों गुणों सहित स्थूल भूतों को उत्पन्न करता है।

इन वचनों को देखते हुए यह मालूम पड़ता है कि यह रहस्यात्मक रूप थोड़े दिनों में नहीं हुआ होगा, किन्तु लाखों वर्षों तक पञ्चभूतों का मिश्रित अण्ड अपने अपने कारण जल में डूब पड़ा रहा। ''वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशरत्।''[२]

बाद में आकाश एवं पृथ्वी इन दो रूपों में विभक्त हो गया । आज की शस्यश्यामला स्थूल भूमि सृष्टि के आरम्भ में जाज्वल्यमान सुवर्ण पिण्ड के समान जर रही थी । कई हजार वर्षों में वह पृथ्वी की गरमाहट शान्त हुई । इसके बाद तृणाङ्कुर निकले ,बहुत वर्षों के बाद पशु पक्षि और मनुष्यों के निवास का समय आया । इस प्रकार पञ्चतत्त्व से लेकर क्रमशः उद्भिज,स्वदज,अण्डज,जरायुज और मानव सृष्टि का क्रमशः विकास होता आया है।

शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा।

सुषाव डिम्भं स्वर्णाभं विश्वाधारालयपदम्।।

---

[१] श्रीमद्भागवत ३/५/३२-३५

[२] श्रीमद्भागवत २/५/३४

अर्थात् -वह सैकड़ों मन्वन्तर पर्यन्त ब्रह्मतेज से जाज्वल्यमान रहा बादमें सारे विश्व का आधारभूत स्वर्ण के समान चमकता हुआ बालका उत्पन्न हुआ।

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो वभूव ह।

स्त्रीरूपों वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः।। देवीभागवत

अर्थात् स्वेच्छामय वह अण्ड स्वेच्छा से दो भागों में विभक्त हो गया जिसका वामभाग पृथ्वीरूप स्त्री हुआ और दक्षिण भाग द्यौरूप पुरुष हुआ।

जिस प्रकार वेदों के अनुसार अव्यक्त व्यक्त के रूप में परिणत होता है एवं सूक्ष्म स्थूल के रूप में परिवर्तित होता है, उसीप्रकार पुराणों में भी ब्रह्म ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत हो जाता है। इस स्वभाविक प्रक्रिया का आश्रय लिया गया है।

इस पौराणिक सृष्टि सिद्धान्त का समर्थन आधुनिक विज्ञान भी करता है। आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं ने एक स्वर से स्वीकार कर लिया है कि सृष्टि ो बनने में निःसन्देह करोड़ों वर्ष से कम समया नहीं लगा होगा।

पाश्चात्य विज्ञानवेत्ताओं में मान्य विद्वान् लिचाफ साहब ने अपने 'सेकृट् डाक्ट्रिन्' नामक पुस्तक में लिखा है कि जमीन को दो हजार डिग्री गर्मी से दो सौ डिग्री तक पहुँचने में ३५ करोड़ वर्ष से कम नहीं लग सकते इत्यादि। इससे उपर्युक्त 'शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा' का ही समर्थन होता है।

इस प्रकार आज पुराणों का सृष्टिक्रम वैज्ञानिक कसौटी पर भी खरा उतर रहा है। सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत उपलब्ध हो सकते हैं। सर्वप्रथम संसार

की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके सम्बन्ध में वेद उपनिषद् दर्शन एवं पुराणों में कई प्रकार के सृष्टि वर्णन है।

आश्रय एवं आधार रूप से परमात्मा को तो सभी ने स्वीकार किया है, परन्तु सृष्टिक्रम में कुछ न कुछ मतभेद सभी रखते हैं। सृष्टि के विषय में तीन मतवाद प्रसिद्ध हैं।(१) आरम्भवाद(२)परिणामवाद (३) विवर्तवाद न्याय और वैशेषिक दर्शनों में परमाणुओं के संयोग से अनेक प्रकार की सृष्टि मानी गयी है।

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा निमित्त कारण बनकर विखरे हुए परमाणुओं को संयुक्त कर देता है। परमाणुओं के संयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है। इसलिए इस मत का नाम आरम्भवाद है।

सांख्य योगदर्शन विभिन्न परमाणुओं को सृष्टि का कारण न मानकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही कारण मानता है और पुराणों के अनुसार भगवान् के द्वारा प्राकृति के क्षुब्ध किये जाने पर त्रिगुण का विकास मानता है। त्रिगुण के परिणाम से ही सृष्टि होने के कारण इस मत को परिणामवाद कहते हैं।

वेदान्ती ब्रह्म से पृथक् परमाणु प्रकृति और उनके कार्य की सत्ता नहीं स्वीकार करत। उनके मत में सत्य वस्तु के वास्तविक परिवर्तन को परिणाम कहते हैं। और अवास्तविक होने पर भी भ्रम से दीख पड़ने वाले परिणाम को विवर्त कहते हैं-

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथाविकार इत्युदीर्यते।

अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।।

वेदान्ती विवर्त को मायिक कहते हैं, उनके मत में माया वास्तव में कोई तत्त्व नहीं है। उनके सिद्धान्त में सृष्टि आदि का वर्णन केवल अध्यारोप दृष्टि से अपवाद के द्वारा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके उसी स्वरूप में स्थित होने के लिए हैं।

इन मतों के अतिरिक्त और भी बहुत से मत हैं जिनके अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में सृष्टि तत्त्वों का निरूपण होता है। मीमांसक जीवों के अदृष्ट को ही सृष्टि का हेतु स्वीकार करते हैं।

इसीप्रकार काल की क्रीड़ा,देवी की पुरणों में जिन पाँच विषयों को हमने ऊपर के बताया है, उन पाँचों में सर्वप्रथम परिगणित सृष्टि ही मुख्य विषय है। पुराणों में इसे सर्ग कहते हैं और सृष्टि भी। नौ प्रकार की सृष्टि का वर्णन प्रायः सभी पुराण करते है -

प्रथमं महतः सर्गो द्वितीयो ब्रह्मणस्तु यः।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः।
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्गश्चैन्द्रियकः स्मृतः।
इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः।।
मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः।
तिर्यक्स्रोतास्तु यः प्रोक्तास्तिर्यग्योन्यः स उच्यते।
ततोर्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः।
ततोऽर्वाक्स्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानुषः।

अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्विकस्तामसस्तु यः।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः।
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः।
एते तव समाख्याता नवसर्गाः प्रजापतेः।।[1]

ब्रह्मा की सृष्टि में सर्वप्रथम इस तत्त्व का आविर्भाव होता है। उसके अनन्तर पंच तन्मात्राओं की सृष्टि होती है। इसी का नाम भूत सृष्टि भी है। इन्द्रिय सम्बन्धी तृतीय सृष्टि की संज्ञा 'वैकारिक' है। यह सृष्टि प्रकृति से उत्पन्न हुई है। इसमें सबसे पहला स्थान बुद्धि का है। चौथी सृष्टि मुख्य सृष्टि कहलाती है।

मुख्य स्थावरों को कहते हैं। पंचम सर्ग तिर्यक् योनि का माना जाता है।छठा सर्ग ऊर्ध्वस्रोता देवताओं का है। इसके बाद अर्वाक्स्रोताओं की सृष्टि मानुषी सृष्टि है। अष्टम सात्विक और तामस गुणों से परिपूर्ण अनुग्रह नाम की सृष्टि है। उपर्युक्त सृष्टियों में पाँच तो वैकृत सृष्टियाँ हैं और तीन प्राकृत सृष्टियाँ है। इस प्रकार ये आठ प्रकार की सृष्टियाँ हैं। एक नवम सृष्टि और मानी गयी है,जो प्राकृत भी है और वैकृत भी। इसे कौमारसृष्टि कहते है।

मानोः कालः- एक मनु के व्याप्ति- काल को मन्वन्तर कहा जाता है। काल-गणना की दृष्टि से जब सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ७१वार (से कुछ अधिक) व्यतीत हो जाते है, तब एक मन्वन्तर होता है। मानव-वर्ष-गणना के अनुसार एक मन्वन्तर में ३० करोड़ सड़सठ लाख, बीस हजार वर्ष होते है।[2]

---

[1] पद्मपुराण,सृष्टिखण्ड,अध्याय ३श्लो.७६-८१
[2] विष्णुधर्मोत्तर.अ. १/८०-८१

पुराणों उपपुराणों में मन्वन्तर की अवधि तथा मन्वन्तरों के नामों का भी प्रायः उल्लेख रहता है ।विष्णुधर्मोत्तर के प्रथम खण्ड के ८०-८१वे अध्यायों में काल-गणना करते हुए मन्वन्तर में होने वाले वर्षों का उल्लेख हुआ है, १४ मन्वन्तरों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि किस मन्वन्तर के स्वामी कौन से मनु है। मन्वन्तर से आगे, कल्प की वर्ष-गणना यहा की गयी है। 'विष्णुधर्मोत्तर' के १७५-१८९ वें अध्यायों में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले मन्वन्तरों की चर्चा करते हुए यह भी बताया गया है कि विष्णु भगवान् का कौन-सा अवतार किस मन्वन्तर में हुआ और किस अवतार ने किस दुष्ट-शक्ति का नाश किया।[१]

'नरसिंहपुराण के १३वें अध्याय में १४ मन्वन्तरों का ४२ श्लोको में वर्णन किया गया है। इस उपपुराण में (१) स्वायम्भुव मन्वन्त (२) स्वारोचिष मन्वन्तर, (३) उत्तम मन्वन्तर, (४) तामस मन्वन्तर, (५) रैवत मन्वन्तर , (६) चाक्षुष मन्वन्तर और (७) वैवस्वत मन्वन्तर का (जो वर्तमान मन्वन्तर है।) वर्णन हुआ है। इसके पश्चात् भविष्य में होने वाले मन्वन्तरों का परिचय दिया गया है - (८) सावर्णिक, (९) दक्ष सावर्णि (१०) ब्रह्म सावर्णि (११) धर्म सावर्णि (१२) रुद्र सावर्णि (१३) रौच्य मन्वन्तर तथा (१४) भौम मन्वन्तर। इस सब मन्वन्तरों के देवता-ऋषि कौन-कौन से हैं - इसका भी उल्लेख किया गया है ।

'कल्कि उपपुराण में भी १४ मन्वन्तरों का उल्लेख हुआ है ।[२]

---

[१] विष्णुधर्मोत्तर.अ.१/१७५-१८९

[२] कल्कि पुराण.अं.३.अ.५

कल्कि उपपुराण में वर्णित चौदह मन्वन्तरों का वर्णन इस प्रकार हुआ है- १ स्वायम्भुव, २ स्वारोचिष, उत्तम, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्त, (वर्तमान), ८ सावर्णिक, ९ दक्षसावर्णिक, १० ब्रह्म सावर्णि, ११ धर्म सावर्णि, १२ रुद्र सावर्णि, १३ सावर्णि, १४ इन्द्र सावर्णि। यहाँ इन सभी मनुओं को भगवान् कल्कि का ही अंश बताया गया है - प्रकाशन्ते नाम रूपादि भेदतः।[१]

पुराणों और उपपुराणों में अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह उल्लेख किया जा चुका है कि उपपुराणों में राजाओं-ऋषियों के वंशों का प्रायः वर्णन नहीं हुआ है, अपवाद रूप में ही एक दो उपपुराणों में राज-वंशों का उल्लेख देखने को मिलता है। दूसरी बात यह भी स्पष्ट की जा चुकी है कि उपपुराणों में अन्य राजवंशों का भले ही न हुआ हो परन्तु सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं और उनकी वंशावली का उल्लेख कई उपपुराणों में हुआ है।

'नरसिंह उपपुराण' के २१-२२वें अध्यायों में संक्षेप में सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं की नामावली दी गयी है। सूर्यवंश के परिचय का अन्त शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध उनके नाम के साथ हुआ है तथा चन्द्रवंश के अन्तिम राजा के रूप में उदयन और वासवदत्ता के पौत्र तथा नरवाहन के पुत्र क्षेमक का उल्लेख हुआ है। इसी उपपुराण में 'वंशानुचरित' के रूप में भी सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के कई प्रमुख राजा महाराजाओं का नामोल्लेख हुआ है। जो भगवान् नरसिंह के उपासक थे।[२]

---

[१] कल्कि पुराण, ३/५/११

[२] नरसिंहपुरण, अ.२८-२९

‘विष्णुधर्मोत्तर ’ उपपुराण में कई राजवंशों तथा ऋषियों के वंशों का परिचय दिया गया है। इसके प्रथम खण्ड के ११२वें अध्याय में अङ्गिरा, ११३ में अत्रि, ११४वें में मारीच तथा इसी क्रम में वशिष्ठ , अगस्त्य, कश्यप आदि ऋषियों के वंशों का, उनके गोत्र-प्रवर का विस्तृत परिचय दिया गया है।

‘हरिवंश’ उपपुराण में सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं का विस्तार से परिचय दिया गया है। पुरुरवा, अनेना, नहुष, ययाति,पुरु, यदुवंश, वृष्णिवंश, क्रोष्टुवंश, बभ्रुवंश की विस्तृत चर्चा हुई है। ‘हरिवंश पुराण’ में तो वंश-परम्पराओं का मनोयोगपूर्वक वर्णन हुआ है किन्तु अन्य उपपुराणों में वंश-वर्णन की प्रायः उपेक्षा ही की गयी है जिसके कारणों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

सृष्टि के भूगोल का वर्णन, पुराणों-उपपुराणों में वर्णन किया गया है। ‘विष्णुधर्मोत्तर’ उपपुराण में सष्टि के सभी द्वीपों के नामोल्लेख के साथ-साथ उनके विस्तार का भी वर्णन किया गया है। इन द्वीपों पर स्थित पर्वतों के नामों और उनके विस्तार की भी चर्चा की गयी है। कौन-कौन सा द्वीप किस महासागर द्वरा आवेष्टित है- यह बताने के साथ-साथ ‘मेरु’ पर्वत की भौगोलिक स्थिति का भी उललेख किया गया है । यह भी बताया गया है कि मेरु पर्वत के चारों ओर कौन-कौन से बढ़े-बढ़े नगर स्थित है।[१]

---

[१] विष्णुधर्मोत्तर,अ. १/७

जम्बूद्वीप का परिचय देते हुए, इसके 'वर्षों (भूखण्डों) की भी जानकारी दी गयी है।[1]

'भारतवर्ष' इस सन्दर्भ में भारतवर्ष का भी परिचय प्रस्तुत किया गया हैं जिसके अन्तर्गत लंका का भी उल्लेख हुआ है। भारतवर्ष के केन्द्रिय, पूर्वी, उत्तरपूर्वी, उत्तर, पश्चिमोत्तर, पश्चिम और उत्तरपूर्वी जनपदों में निवास करने वाली जातियों का भी वर्णन किया गया है। भारतवर्ष के सात मुख्य पर्वतों (कुल पर्वत) के सम्बन्ध में भी विस्तार से जानकारी दी गयी है। भारतवर्ष की प्रमुख नदियों का वर्णन भी किया गया है जिनका उद्र्म् हिमालय से हुआ है, जिन्हें विशेष रूप से पवित्र माना जाता है।[2]

नरसिंह उपपुराण में भी सृष्टि के भूगोल का वर्णन प्राप्त होता है ।यहाँ संक्षेप में इस विषय की चर्चा की जा रही है। इस उपपुराण में द्वीप सात बताए गये है- १ जम्बू, २ प्लक्ष, ३ शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शक और पुष्कर । ये सातों द्वीप क्रमशः लवण, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध तथा शुद्धोदक नाम से विख्यात सात वलयाकार समुद्रों से घिरे हुए है। इस उपपुराण में सात कुल-पर्वतों की भी जानकारी दी गयी है। वे हैं महेन्द्र, मलय,शक्तिमान,ऋृष्यमूक, सह्य, विन्ध्य और पारियात्र। ये ही भारतवर्ष के कुल पर्वत है।

बृहन्नारदीय उपपुराण' में सृष्टि के भूगोल के अन्तर्गत मेरु और लोकालोक पर्वतों की स्थिति बातायी गयी है। इन पर्वतों के साथ-साथ सात समुद्रों की चर्चा हुई

---

[1] विष्णुधर्मोत्तर, अ.१/८/२८

[2] विष्णुधर्मोत्तर,अ. १/९

है। सात द्वीपों की भौगोलिक स्थिति तथा उनके विस्तार का वर्णन किया गया हैं। इस सन्दर्भ में भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति का वर्णन किया गया है।[१]

भारतवर्ष की महानता, पवित्रता की चर्चा की गयी है। निष्कर्ष यह है कि सृष्टि के भूगोल का वर्णन पुराणों उपपुरणों में विशेष रूप से किया गया है।

नीति तथा 'राजधर्म' का वर्णन कई उपपुराणों में हुआ है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के दूसरे खण्ड में कई अध्यायों में राज-धर्म का, रातनीति का वर्णन किया गया है। तथा प्रशासन में सहायता करने वाले व्यक्तियों के चयन में राजा का किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिएश राज-कर्मचारियों पर गुप्तचरों की नियुक्ति, कोष की वृद्धि एवं सुरक्षा, अन्तःपुर की स्त्रियों की रक्षा, राजकुमारों की शिक्षा व्यवस्था, मित्रा-शत्रुओं के साथ राजा का व्यवहार राज्य के विधि-विधान को भंग करने वालों को दिया जाने वाला दण्ड, साम, दान, दण्ड, भेद प्रजा की रक्षा, राज्य के हाथी घोड़ों की सुरक्षा एवं वृद्धि आदि अनेकानेक विषयों का वर्णन किया गया है।[२]

इसी प्रकार 'विष्णुधर्मोत्तर में यह भी बताया गया है कि राजा को शत्रु पर किस समय आक्रमण करना चाहिए। विजय प्राप्ति के लिए युद्ध में प्रस्थान से पूर्व पूजा-यज्ञ आदि का भी विधान किया गया है। शस्त्र-पूजा की चर्चा भी यहाँ की गयी है। इस सन्दर्भ में युद्ध-विद्या के कई सूक्ष्म रहस्यों का भी वर्णन किया गया है।[३]

---

[१] बृहन्नारदीय उपपुराण'अ.३

[२] विष्णुधर्मोत्तर अ. २/६१,६५,६६,६७

[३] विष्णुधर्मोत्तर. अ.२/१७५-१७८

धनुर्वेद विद्या की भी यहा पर्याप्त चर्चा की गयी है।[1]

राज लक्षण, सांवत्सरित लक्षण, महिषी लक्षण, पुरोहित लक्षण, मन्त्रीलक्षण आादि राजनैतिक विषयों की चर्चा भी इस पुराण में विस्तार से की गयी है ।क्रियायोग उपपुराण में भी (दान प्रसंग में श्र) राजनीति शास्त्र की चर्चा कुछ श्लोकों में की गयी है ।

कालिका पुराण १८ उपपुराणों में से एक है।यह शाक्त सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सृष्टि का वर्णन एक वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है।

इस पुराण के २५ अध्याय में काल नामक देव (कालपुरुष) से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है-

कालो नाम स्वयं देवः सृष्टिस्थित्यन्कारकः।
अविच्छन्नः स प्रलयस्तेन भागेन केनचित्।।[2]

काल नामक देव ,परमात्मा, जगत की सृृष्टि-स्थिति और अन्त का करने वाला है। वह प्राकृत प्रलय भी उसी के किसी भाग से सम्बद्ध वह लय भाग व्यतीत हो जाने पर कालरूप एवं ज्ञानरूप तथा व्यापक परब्रह्म में सृष्टि की इच्छा हुई । तथा उसकी प्रकृति उसके बुद्धि के माध्यम से भलिभाँति संक्षोभित की गई तब संक्षुब्ध होकर सभी कार्यों में सक्षम तीनों गुणों से युक्त होकर त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपा गन्ध की निकटता मात्र से ही मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, उसी

[1] विष्णुधर्मोत्तर. अ. २/१७२
[2] कालिका पु.अ.२५/१

प्रकार यह परमेश्वर भी लोक कर्ता होने के कारण प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है।[१]

यह परमेश्वर ही क्षोभ पैदा करने वाला है तथा वही क्षुब्ध भी होने योग्य है। वही अपनी संकोच (लय) तथा विकास (सृष्टि) प्रक्रिया द्वारा प्रधानतया से या प्रधान के रूप में भी स्थित है क्योंकि यह परमेश्वर की इच्छामात्र से ही वह परमेश्वर पुरुष सृष्टि में प्रवृत्त हुआ तब उस जगत के स्वामी ने पुनः (पहले की भाँति) संक्षुब्ध किया।

इच्छामात्रेण पुरुषः श्रृष्ट्यर्थं परमेश्वरः।

ततः संक्षोभयामास पुनरेव जगत्पतिः।।[२]

वही श्रीमहाभागवत पुराण में सृष्टि का वर्णन उस परा प्रकृति भगवती को एक समया प्रमोदावस्था में, तत्काल उसी समय नयी सृष्टि (जगत निर्माण) करने की इच्छा से एक रूपाकार ग्रहण किया।

सृष्टीच्छा समभूत्तस्या मुदा सद्यस्तदैव हि।

अरूपापि दधे रूपं स्वच्छया प्रकृतिः परा।।[३]

'क्रियायोगसार उपपुराण' में भी विष्णु भगवान् के अवतारों का नाम-निर्देश हुआ है। यहाँ कृष्ण के नाम के स्थान पर बलराम का नाम उल्लिखित है। वस्तुतः 'क्रियायोगसार' में कृष्ण को महाविष्णु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अतः महाविष्णु-रूप कृष्ण का विष्णु के अवतार के रूप में कैसे प्रस्तुत किया जाता

[१] कालिका पु.अ.२५/४
[२] कालिका पु.अ.२५/६
[३] म.भा.पु.३/१५

है? अवतारों की इस सूची के बुद्ध तथा कल्कि अवतारों का भी नाम दिया गया है-

नमोऽस्तु कल्किने तुभ्यं नमस्ते बहुमूर्त्तये।।[1]

'आदिपुराण' में नारद बताते है कि श्रीकृष्ण भी विष्णु के अवतारों में से एक है, इस सम्बन्ध में नारद को सनत्कुमार ने सूचित किया था। इस पुराण में श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस उपपुराण के १६वें अध्याय से प्रारम्भ कर ३०वें अध्याय तक अत्यन्त रोचक शैली में कृष्ण-चरित्र का वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वसुदेव-देवकी की आठवीं सन्तान श्रीकृष्ण,साक्षात् भगवान् विष्णु का ही रूप है-

अष्टमे भगवान् विष्णुः सच्चिदानन्द विग्रहः।[2]

भक्ति-भावना : 'भक्ति' - पुराणों-उपपुराणों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य है। ईश्वर-प्राप्ति के अन्य साधनों-ज्ञान, योग, तपस्या आदि का वर्णन भी पुराणों-उपपुराणों में प्रचुर रूप में हुआ है किन्तु इनमें भक्ति की महिमा सबसे अधिक विस्तार से गायी गयी है। वस्तुतः पुराणों-उपपुराणों में भक्ति का अगाध एवं विशाल सागर उपड़ रहा है। किसी अलौकिक, दिव्य सत्ता के महत्व को स्वीकार करके, उसके प्रति श्रद्धा रखना-भक्ति है। श्रद्धेय के प्रति प्रेम-भावना की तीव्रता तथा सहज समर्पण भक्ति के अनिवार्य घटक है। श्रद्धा-भक्ति एक दूसरे के पूरक माने जा सकते है

[1] क्रियायोगसार ११/९
[2] आदि पु. अ.६/७

'नारद भक्ति सूत्र' तथा 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' में भक्ति तत्त्व की चर्चा की गयी है। भक्ति तत्त्व के व्याख्याता कतिपय अन्य आचार्यों ने भी भक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। ईश्वर के प्रति पराभाव के अनुराग को, भक्ति कहा गया है-

सा परानुरक्तीरश्वरे'।[१]

अथवा सर्वेश के प्रति गहन श्रद्धा तथा प्रगाढ़ प्रेम को भक्ति कहते है।[२] लौकिक प्रेम का उदात्ती करण हो जाने से यह प्रेम जब ईश्वर-विषयक हो जाता है, दिव्य हो जाता है, तब वह भक्ति-भाव कहलाता है।

अवतारवाद की मान्यता के परिणाम-स्वरूप, ईश्वर के भिन्न-भिन्न अवतारों की पूजा-उपासना का प्रचलन हुआ। देवालयों का निर्माण किया गया। उन देव-मन्दिरों में भगवान् के किसी न किसी अवतार के विग्रह की, प्रतिमा की प्रतिष्ठा की गयी।

इन्हीं ईश्वरीय प्रतिमाओं में भगवान् की प्रतिष्ठा करके, उनकी पूजा-अर्चना के विधि-विधान को निश्चित किया गया। अवतारवाद,मूर्ति-पूजा के कारण भक्ति-भावना का सम्पूर्ण विकास हुआ। भक्तजन,उपासक-गण,अपने प्रेम को, अपनी श्रद्धा-भावना को इन भगवत् -विग्रहों के सम्मुख अर्पित करने लगे। अपनी आस्था, विश्वास को प्रभु-चरणों में समर्पित करने लगे। पुराण-उपपुराण-काल में सगुण-साकार रूप में प्रतिष्ठित प्रभु की भक्ति का नव रूपों में विकास हुआ जिसे 'नवधा भक्ति' कहा गया है-

---

[१] शा.भ.सू.२

[२] भक्तिरसायन (मधुसूदन सरस्वती,अ.१)

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।।[1]

भागवत् ' के समान ही 'शिव-पुराण' में भी कहा गया है-

सख्यमात्मर्पणं चेति नवाङ्गानि विदुर्बुधा।।[2]

उपपुराणों में भक्ति-भाव का, नाम-जप, प्रभु-स्मरण, पूजा-अर्चना तथा आत्म-समर्पण का विस्तार से और प्रभावशाली रूप में वर्णन किया गया है। चाहे सूर्य की उपासना के रूप में हो या विष्णु की महिमा के रूप में ईश्वर के प्रति अनुराग की, अनुरक्ति की भावना अत्यन्त गहन रूप में व्यक्त हुई है। इसी प्रकार शिव-भक्तों, शाक्तों तथा गणेश जी के भक्तों ने भी अपने-अपने आरध्य, अपने उपास्य के प्रति गहरी श्रद्धा भावना को व्यक्त किया है। भगवान् विष्णु के दस या चौबीस अवतारों की पूजा-उपासना अर्चना, वन्दना का वर्णन उपपुराणों में विस्तार से वर्णित है।

'नरसिंह पुराण' में नरसिंह भगवान् की पूजा तथा विभिन्न प्रकार की सेवा का वर्णन किया गया है। भगवान् नरसिंह (विष्णु) के मन्दिर की स्वच्छता, प्रभु-प्रतिमा को जल, दुध, दधि तथा शहद से स्नान कराने, मन्त्र, जप, नैवेद्य चढ़ाने, गरुणध्वज फहराने, भजन-कीर्तन, नर्तन करने से भगवान् नरसिंह को प्रसन्न करने का वर्णन हुआ है। इसी सन्दर्भ में भगवान विष्णु की प्रतिमाओं के निर्माण, प्राणप्रतिष्ठा तथा विष्णु भगवान् की वैदिक एवं सामान्य विधि से पूजा-

---

[1] भा.म.पु.७/५/२३

[2] शिवपुराण,रुद्रसंहिता,सतीखण्ड,२२-२३

उपासना का वर्णन भी किया गया है।[1] यहाँ अत्यन्त संक्षेप में इस विषय की चर्चा की जा रही है। सहस्रानीक के पूछने पर मार्कण्डेय ऋषि पहले तो उन्हें विष्णु-पूजा के पाँच आधार बताते है- अग्नि, सूर्य, हृदय, वेदी, और प्रतिमा। इसके पश्चात् वह बताते है कि शुक्लयजुर्वेद में जो पुरुष सूक्त है उस सूक्त के मन्त्रों से विष्णु भगवान् की पूजा करनी चाहिए। पहली ऋचा से आवाहन, दूसरी ऋचा से आसन, तीसरे से पाद्य अर्पित करना चाहिए। चौथी ऋचा से अर्घ्य, पाँचवीं से आचमन, छठी से भगवान् विष्णु को स्नान कराना चाहिए। सातवी से भगवान् को वस्त्र अर्पित करनी चाहिए। आठवी से यज्ञोपवीत, नवमी ऋचा से गन्ध, दसवी ऋचा से भगवान् विष्णु को पुष्प चढ़ानी चाहिए। ग्यारहवी से धूप, बारहवी से दीप और तेरहवी ऋचा से नैवेद्य तथा फल, दक्षिणा आदि अन्य पूजा-सामग्री भगवान् विष्णु को अर्पित करनी चाहिए। चौदहवी ऋचा से स्तुति करके,पन्द्रहवी से प्रदक्षिणा करनी चाहिए। अन्त में सोलहवी ऋचा से विसर्जन किया जाता है। इस प्रकार विधि पूर्वक पूजा करने वाला भक्त शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[2]

अन्त में महामुनि मार्कण्डेय कहते है कि हे राजन ! इस प्रकार मैने तुम्हें भगवान् विष्णु की पूजा की विधि बतायी है- अनेन नित्यं कुरुविष्णुपूजां प्राप्तुं तदिष्टं यदि वैष्णवपदम्।[3] यदि तुम्हें वैष्णवपद प्राप्त करने की इच्छा हो तो इस विधि के द्वारा सदा भगवान् विष्णु की पूजा करो।

---

[1] नरसिंह पुराण,अ.३२/३४
[2] नरसिंह पुराण अ. ६२/६३
[3] नरसिंह पु. अ.६२/२०

'क्रियायोगसार' उपपुराण में भी चम्पक पुष्पों के साथ विष्णु की पूजा की विशेष प्रशंसा की गयी। विष्णु भगवान् के चरणोदक की भी बहुत प्रशंसा हुई है। फाल्गुन तथा चैत्र मास में विष्णु भगवान की पूजा की विधि तथा अन्यान्य सेवाओं का महत्त्व बताते हुए विष्णु-भक्त की महिमा बतायी गयी है। इस उपपुराण के २५-२७वें अध्यायों में राम-नाम के जप से प्राप्त होने वाले फल, 'ॐ रामाय नमः'।[१]

मन्त्र की महत्ता, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'।[२] मन्त्र का महत्त्व, श्रीकृष्ण के १०८ नामों के जप से प्राप्त पुण्य-लाभ, हरिभक्ति की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। राम के नाम उच्चारण के फल का वर्णन करते हुए 'क्रियायोगसार' उपपुराण में कहा गया है-

रामेत्यक्षरयुग्मं हि सर्व मन्त्राधिकं द्विज।
यदुच्चारणमात्रेण पापी याति परांगतिम्।।[३]

अर्थात् 'र' और 'म' यह अक्षर युग्म सभी मन्त्रों से अधिक है। हे द्विज ! उसके (रामनाम के) उच्चारण मात्र से पापी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

आत्म-समर्पण की भावना की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि कलियुग में शुद्ध मन से अपने सारे कर्म प्रभु को अर्पित करने से ही मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है- तदर्पये-महाविष्णौ भक्तिभाव समन्वितः।[४] आदिपुराण में भगवान्

---

[१] क्रियायोगसार अ.१५/१७
[२] क्रियायोगसार अ.१६/४७
[३] क्रियायोगसार अ.१५/८८
[४] क्रियायोगसार अ.२६/४६-४७

विष्णु के प्रति अगाध श्रद्धा-भावना की प्रशंसा की गयी है। श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार तो है ही, वे स्वयं ही भगवान् है- कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।[1]

यहाँ कृष्ण के साथ-साथ राधा की महिमा भी वर्णित है जो कृष्ण की पराशक्ति, आह्लादिनी शक्ति के रूप में चित्रित है। 'आदि पुराण' के अनुसार प्रेम तथा भक्ति-भावना से परिपूर्ण हृदय से कृष्ण-कीर्तन ही कृष्ण की पूजा है जो योग, दान आदि सबसे उत्कृष्ट है। 'आदिपुराण' में विष्णु-भक्ति का अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

'कल्कि पुराण' के प्रथम अंश के सातवें अध्याय में पद्मावती के द्वारा विष्णु की उपासना-पद्धति का वर्णन करते हुए 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र के जप की महिमा बतायी गयी है।[2]

इस पुराण के दूसरे अंश के प्रथम तीन अध्यायों में भी विष्णु-भक्ति का महत्त्व वर्णित है। प्रथम अध्याय में पद्मावती तोते को भगवान् विष्णु की पूजा-अर्चना की विधि विस्तार से बताती है। वह कहती है-

पूर्णात्मा देशिको मूलं मन्त्र जपति मन्त्रवित्।।[3]

इस प्रकार चरणों से केश पर्यन्त भगवान् विष्णु का ध्यान करके मन्त्र के ज्ञाता को 'मूल मन्त्र' का जप करना चाहिए। तीसरे अध्याय में भगवान् कल्कि का जो वर्णन किया गया है, वह भी स्पष्ट रूप में विष्णु भगवान् के ही स्वरूप का वर्णन है।

---

[1] आदि,पु. अ.१३/१७

[2] कल्कि,पु. प्र.अं.अ.७

[3] कल्कि,पुराण २ अं.अ.१/३

'बृहन्नारदीय उपपुराण' में भी वृन्दावन-विहारी उपेन्द्र (श्रीकृष्ण) की महिमा का वर्णन तथा कृष्ण-भक्ति का माहात्म्य वर्णित है। यहाँ श्रीकृष्ण को 'आदि देव' कहा गया है और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश को इस आदि देव का अंश बताया गया है। यहाँ भगवान् को हरि, नारायण, वासुदेव, जनार्दन आदि नामों से पुकारा गया है।

कपिल पुराण' में शाम्ब द्वारा भगवान् सूर्य की पूजा-उपासना तथा उसकी भक्ति-भावना का वर्णन हुआ है। भगवान् भास्कर की अर्चना-वन्दना से शाम्ब के कुष्ठ-रोग से मुक्त होने की चर्चा पहले भी की जा चुकी है।[१]

राजा इन्द्रद्युम्न की भगवान् जगन्नाथ जी के प्रति श्रद्धा-भावना, कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा की प्रतिमाओं का निर्माण तथा स्वयं ब्रह्मा द्वारा उनकी स्थापना, इन्द्र की शङ्कर के प्रति भक्ति-भावना का भी वर्णन प्राप्त होता है।[२] वैष्णव के चिन्हों का वर्णन करते हुए कपिल मुनि को स्वयं महादेव कहते हैं कि जो व्यक्ति आनन्दाश्रुओं से समायुक्त हो, जिसके मुख से निरन्तर ऊँचे स्वर से गोविन्द का कीर्तन होता रहे- वही वैष्णव है-

आनन्दाश्रु समायुक्तमुच्यैर्गोविन्दकीर्तनम्।[३]

ये वैष्णव-चिन्ह भक्त के ही लक्षण होते है। इसी पुराण में कहा गया है-

हरेर्नाम हरेर्नाम कीर्तयस्य निरन्तरम्।[१]

[१] कपिल पु.अ.६
[२] कपिल पुराण,अ.४/१३-१८
[३] कपिल पु.अ.२१/२३

'पराशरोपपुरण' के २५वें अध्याय में इन्द्र देव द्वारा शिवलिङ्ग की स्थापना, भगवान् शिव की भक्ति का वर्णन किया गया है। शिव पार्वती से कहते है कि जहाँ मेरा ज्ञानी-भक्त निवास करता है, मै भी वहाँ रहता हूँ।

यत्र साक्षाच्छिवो ज्ञानी वर्तते प्रीति संयुतः।

तत्राहं प्रीति संयुक्तः सदा सन्निहतः प्रिये।।[२]

'विष्णुधर्मोत्तरोपपुराण' में विष्णु की स्तुति, उस स्तुति-गायन् का पुण्य-लाभ का वर्णन ७२वे अध्याय मे गजेन्द्र-मोक्ष प्रसंग प्रस्तुत किया गया है जिसमें भगवान् विष्णु ग्राह से गज को मुक्त कराते है। ५८ श्लोकों में वर्णित भक्ति-भाव से परिपूर्ण यह प्रसंग बहुत ही रोचक है।[३]

उपपुराणों में दक्षिण भारत में विकसित भक्ति-आन्दोलन का, उस आन्दोलन के सूत्रधार आचार्यों, व्याख्याता विद्वानों का तथा भक्ति-तत्त्व का भी गम्भीरता से प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में 'भार्गव उपपुराण' में विशेष रूप से चर्चा की गयी है। वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति की आलवार-परम्परा अत्यन्त सम्मृद्ध रही है। इन आलवा भक्तों ने तमिल तथा संस्कत में भक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना की है।

कहीं-कहीं आलवा के स्थान पर 'अडियार' शब्द का भी उल्लेख हुआ है किन्तु दोनों का अर्थ एक ही है- वैष्णव भक्त। आलवार भक्तों की संख्या १२ है।

---

[१] कपिल,पु.अ. २९/३०

[२] पाराशरोप.पु.अ.१५/८

[३] वि.ध.पु.अ.१९३-१९३

इनके नामों की सूची इस प्रकार है जो भार्गव उपपुराण की भूमिका में कहा गया है।[1]

निष्कर्ष रूप में यह कहना उचित होगा कि भक्ति-भावना का वर्णन उपपुराणों का प्रमुख प्रतिपाद्य है। अनेक आख्यानों-उपाख्यानों, वृत्तान्तों के माध्यम से भक्ति-भावना की महिमा इनमें प्रतिपादित की गयी है। भक्ति के उमड़ते हुए प्रवाह को इन उपपुराणों में वाणी दी गयी है।

इतना ही नहीं दक्षिण भारत में प्रवहमाण भक्ति-धारा का भी इन उपपुराणों में वर्णन किया गया है जो उत्तर और दक्षिण की एकता को रेखांकित करता है। भक्ति-तत्त्व की दृष्टि से उत्तर और दक्षिण में कोई अन्तर नहीं है। भावात्मक रूप से सम्पूर्ण भारत एक है।

समान संकल्पों एवं समतुल्य अभीप्साओं के वातावरण के निर्माण से सामूहिक विचारों,संकल्पों एवं भावनाओं से व्यक्ति एवं समाज दोनों उच्चतर शक्ति प्राप्त कर पाते है अतः मन्दिर,यज्ञ,तीर्थस्थलों का विधान किया गया था। इनका वर्णन क्रियापाद में पाया जाता है।

पर्वों पर आयोजित सामूहिक पूजा उपासकों की चेतना पर अधिक शक्तिपूर्ण प्रभाव डालती है। यह एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करती है जो कि ईश्वरोन्मुख संवेग एवं सत्य ही अभीप्सा को अधिक गति,अधिक शक्ति,अधिक दृढ़ता एवं निष्ठा प्रदान करती है।

---

[1] भार्ग.उ.पु.भू.पृ.२६

इससे शरीर के अणु-परमाणु भी आत्मा की पुकार के उत्तर में स्पन्दित हो उठते हैं और वातावरण जीवन्त स्पन्दन का उन्मेष होने लगता है।

इन सभी तथ्यों को लक्ष्य में रखकर सामूहिक साधन-स्थलों,तदुपयोगी कृत्यों आदि का विधान किया है वह सब तन्त्र के क्रियापाद में पाया जाता है।

तान्त्रिक कृत्यों एवं पूजा के महत्वपूर्ण अङ्गों में एक है न्यास क्रिया जिसका तात्पर्य है

शरीर के कुछ अङ्गो पर अवस्थित होने के लिए किसी देवता या मन्त्रों का मानसिक रूप से आह्वान करना,जिससे शरीर पवित्र हो जाय और पूजा एवं ध्यान करने के योग्य हो जाय। कतिपय पुराणों में भी न्यास सम्बन्धी व्यवस्थाएं पायी जाती हैं।[१]

गरुण पुराण में अङ्ग न्यास को पूजा जप एवं होम का अङ्ग माना है। कालिका पुराण में मातृका न्यास का उल्लेख किया गया है।[२]

[१] गरुण पुराण (अ.२६/३१-३२)
[२] कालिका पुराण (अ.७७)

मातृका न्यास-

विनियोगः-

अस्य श्रीमातृकासरस्वतीन्यासमहामन्त्रस्य ब्रह्माऋषिर्गायत्रीछन्दः श्रीमातृकासरस्वती देवता हलो बीजानि,स्वराः शक्तयः बिन्दवः कीलकानि मम श्री इष्ट देवता प्रीत्यर्थे विनियोगः।

ऋष्यादि न्यासः-

ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः शिरसि।
गायत्रीच्छन्दसे नमः मुखे।
श्रीमातृकासरस्वती देवतायै नमः हृदये।
हल्भ्यो बीजेभ्यो नमः गुह्ये।
स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः पादयोः।
बिन्दुभ्यः कीलकेभ्यो नमः नाभौ।
विनियोगाय नमः करसम्पुटे।

करन्यासः-

ॐअं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐइं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां नमः।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां नमः।
ॐएं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां नमः।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठिकाभ्यां नमः।
ॐअं यं रं लं वं शं षं सं ळं क्षं अः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

षडङ्गन्यासः-

ॐअं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः ।
ॐइं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट् ।
ॐएं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्।
ॐअं यं रं लं वं शं षं सं ळं क्षं अः अस्त्राय फट् ।

ध्यानम् -

पञ्चाशद्वर्णभेदैर्विहितवदनदोः पादयुक्कुक्षिवक्षो-
देशां भास्वत्कपर्दाकलितशशिकलामिन्दुकुन्दावदाताम् ।
अक्षस्त्रक्कुम्भचिन्तालिखितवरकरां त्रीक्षणमब्जसंस्था-
मच्छाकल्पामतुच्छस्तनजघनभरां भारतीं तां नमामि।।

अन्तर्मातृकान्यासः-

विशुद्धि चक्र के षोडशदलकमल में दक्षिणावर्त क्रम से-

ॐअं नमः। आं नमः। इं नमः। ईं नमः। उं नमः। ऊं नमः। ऋं नमः। ॠं नमः।

ऌं नमः। ॡं नमः। एं नमः। ऐं नमः। ओं नमः। औं नमः। अं नमः। अः नमः।

अनाहतचक्र के द्वादशदलकमल में -

ॐ कं नमः। खं नमः। गं नमः। घं नमः। ङं नमः। चं नमः। छं नमः।

जं नमः। झं नमः। ञं नमः। टं नमः। ठं नमः।

मणिपूरचक्र के दशदलकमल में-

ॐडं नमः। ढं नमः।णं नमः। तं नमः। थं नमः। दं नमः।धं नमः। नं नमः।

पं नमः। फं नमः।

स्वाधिष्ठानचक्र के षड्दलकमल में-

ॐबं नमः भं नमः मं नमः यं नमः।रं नमः।लं नमः।

मूलाधारचक्र के चतुर्दलकमल में-

ॐवं नमः। शं नमः। षं नमः। सं नमः।

आज्ञाचक्र के द्विदलकमल में-

ॐहं नमः। क्षं नमः।

बहिर्मातृका न्यासः-

ॐ अं शिरसि। ॐआं नमः ललाटे।

ॐ इं नमः दक्षनेत्रे। ॐ ईं नमः वामनेत्रे ।

ॐउं नमः दक्षकर्णे। ॐऊं नमः वामकर्णे।

ॐऋं नमः दक्षनासापुटे। ॐ ॠं नमः वामनासापुटे।

ॐ ऌं नमः दक्षकपोले। ॐॡं नमः वामकपोले।

ॐएं नमः ऊर्ध्वोष्ठे । ॐ ऐं नमः अधरोष्ठे।

ॐओं नमः ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ॐऔं नमःअधोदन्तपङ्क्तौ ।

ॐ अं नमः जिह्वाग्रे। ॐअः नमः कण्ठे।

ॐकं नमः दक्षबाहुमूले। ॐ खं नमः दक्षकूर्परे।

ॐगं नमः दक्षमणिबन्धे। ॐ घं नमः दक्षकराङ्गुलिमूले।

ॐङं नमः दक्षकराङ्गुल्यग्रे। ॐचं नमः वामबाहुमूले।

ॐछं नमः वामकूर्परे। ॐजं नमः वाममणिबन्धे।

ॐझं नमः वामकराङ्गुलिमूले। ॐञं नमः वामकराङ्गुल्यग्रे।

ॐटं नमः दक्षोरुमूले। ॐठं नमः दक्षजानुनि।

ॐ डं नमः दक्षगुल्फे। ॐ ढं नमः दक्षपादाङ्गुलिमूले।

ॐणं नमः दक्षपादाङ्गुल्यग्रे। ॐतं नमः वामोरुमूले।

ॐथं नमः वामजानुनि। ॐदं नमः वामगुल्फे।

ॐ धं नमः वामपादाङ्गुलिमूले। ॐनं नमः वामपादाङ्गुल्यग्रे।

ॐ पं नमः दक्षपार्श्वे। ॐफं नमः वामपार्श्वे।

ॐ बं नमः पृष्ठे। ॐभं नमः नाभौ।

ॐमं नमः जठरे। ॐयं नमः हृदये।

ॐरं नमः दक्षकुक्षे । ॐलं नमः गलपृष्ठे।

ॐवं नमः वामकुक्षे। ॐशं नमः हृदयादिदक्षकराङ्गुल्यन्तम्।

ॐषं नमः हृदयादिवामकराङ्गुल्यन्तम्। ॐसं नमः हृदयादिदक्षपादाङ्गुल्यन्तम्।
ॐहं नमः हृदयादिवामपादाङ्गुल्यन्तम्। ॐळं नमः कट्यादिपादाङ्गुल्यन्तम्।
ॐक्षं नमः कट्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तम्।

मत्स्य पुराण के अनुसार जहाँ ॐ के साथ न्यास में मन्त्रों के प्रयोग की विधियाँ दी गयी है।[१]कालिका पुराण के अध्याय ५३/३६ में एवं देवीपुराण में भी न्यास प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त होता है।[२]

उपर्युक्त वचनों से यह विदित होता है कि न्यास की चर्चा तन्त्र गन्थों से पुराणों द्वारा योगियाज्ञवल्क्य, अपरार्क (१२वीं शती के पूर्वाध) एवं स्मृतिचन्द्रिका के कई शतियों पूर्वग्रहण की गयी थी। वर्षक्रियाकौमुदी (१६ वीं शती का पूर्वार्ध) से प्रकट है कि इससे बहुत पहले गरुण एवं कालिका पुराणों में न्याय की व्यावस्था दी गयी थी।

रधुनन्दन के देवप्रतिष्ठातत्त्व में मातृका न्यास एवं तत्त्व न्यास का उल्लेख किया गया है।[३] आजकल कुछ कट्टर लोग न्याय के दो प्रकारों का प्रयोग करते है, यथा

(१)-अन्तर्मातृका, (२)-बहिर्मातृका पहला जिसमें अ से क्ष तक के अक्षरों का न्यास हाथों की अङ्गुलियों, हाथों की हथेलियों एवं ऊपरी भागों तथा अन्य

[१] मत्स्य पु.२२६/२९
[२] देवीपुराण के ७/४०/६-८
[३] देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ.५०५)

शरीराङ्गों यथा-गला,जननेन्द्रियों,आधारस्थल,भौहों के मध्य स्थल (जहाँ छः चक्रों का आधार है) पर किया जाता है।

दूसरा बहिर्मातृकान्यास जहाँ सभी अक्षरों (अनुस्वार के साथ) का न्यास सिर से पाँव तक के शरीराङ्गों पर ओं नमः मूर्ध्नि आदि के रूपों में किया जाता है। 'न्यास' शब्द अस् धातु (स्थापित करना) एवं नि से बना है जिसका अर्थ है किसी में या किसी पर रखना या स्थापित करना। कुलार्णव तन्त्र ने इसे इस प्रकार समझाया है।

शाक्त उपपुराणों में योग प्रक्रिया

तन्त्र साधाना के चार खण्डों के द्वितीय योगपाद का आध्यात्मिक साधना की अन्तर्यात्रा के पथ पर अग्रपद होनें के लिए आध्यात्मिक शक्ति-केन्द्रों को जागृत करने की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि इस पथ पर आगे बढ़ने के लिए जिस अभौतिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है वह शक्ति इन्हीं आवृत कपाटों वाले दिव्य शक्ति केन्द्रों को खोलने एवं उन्हें जागृत करने पर प्राप्त हुआ करती है। ये शक्ति केन्द्र शरीर में मेरुदण्ड के निम्नतम भाग से उच्चतम भाग तथा उससे भी उपर 'शून्य' एवं 'विसर्ग' तक फैले हुए है और इनकी आख्या है-

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, बिन्दु, अर्धचन्द्र (अर्द्धेन्दु), रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना और महाबिन्दु।
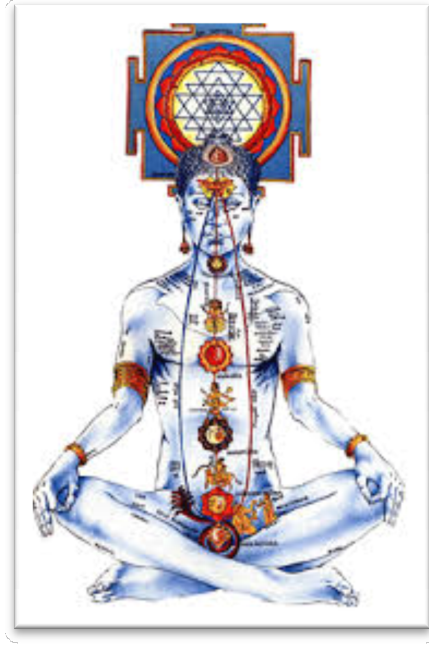
इसी अन्तर्यात्रा पर चलते हुए साधक को 'जाग्रत',स्वप्न,सुषुप्ति,तुरीय एवं तुरीयातीत रूपी चेतना के विभिन्न पहाड़ियों को लाँघते हुए महाबिन्दु तक पहुँचना होता है और इसके लिए षट्चक्रभेदन, ग्रन्थित्रयभेदन एवं कुण्डलिनी जागरण भी करना पड़ता है।

इस साधना के दुरारोह आरोहण में सफलता प्राप्ति के लिए साधक को योग के सप्त साधन पञ्चकोश-साधन की भी आवश्यकता पड़ती है और एतदर्थ योग के अष्टाङ्ग-साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान,धारणा, समाधि इन अष्टाङ्ग साधनाओं की आवश्यकता पड़ती है। अष्टाङ्ग-साधना को सफल

बनाने हेतु (१) प्राण, (२)बिन्दु, (३) नाद, (४) मन एवं आत्मा की साधना की आवश्यकता पड़ती है।

ज्ञानपाद विचाराश्रित (या श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साध्य) है किन्तु विचारशुद्धि, पिण्डशुद्धि, प्राणशुद्धि, बिन्दुशुद्धि, नादशुद्धि,एवं मनः शुद्धि के बिना सम्भव नहीं है।

अतः योगपाद स्थायी विशुद्धज्ञान प्राप्त करने के लिए योग साधना को अपरिहार्य मानना होगा। योग पुरुष को प्रकृति से पृथक् करके उसके स्वस्वरूपसाक्षात्कारात्मक 'कैवल्य' की प्राप्ति कराता है।

कैवल्यप्राप्ति ही योग साधना का परम लक्ष्य है और इसी का अपर पर्याय है- 'स्वस्वरूपावस्थान''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्''[१] परन्तु स्वरूपावस्थान 'चित्तसारूप्य'[२]के समय तो सम्भसव है नहीं और चित्तवृतियों का निरोध ही 'योग' है (योगश्चित्तृत्तिनिरोधः)[३] योगसूत्र (२)। अतः इन चित्तवृत्तिनिरोधस्वरूप योग को प्राप्त करने के लिए साधक अभ्यास और वैराग्य की साधना का आश्रय लेता है; क्योंकि-अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:''योगसूत्र (समाधिपाद १२) उसे 'वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता से युक्त चित्तवृत्तियों के निरोधरूप सम्प्रज्ञात समाधि एवं पर वैराग्यसञ्ज्ञात विरामप्रत्यय एवं निर्विज (निर्विकल्प)

[१] योगसूत्र (समाधि पाद २)
[२] योगसूत्र (४)।
[३]

समाधि की साधना भी करनी पड़ती है और तभी योगी साधक अपने चरम लक्ष्य गुणों के प्रतिप्रसवस्वरूप कैवल्य एवं चिति शक्ति की 'स्वरूप प्रतीष्ठा' या स्वस्वरूपावस्थान ' स्वरूप अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर पाता है।

तान्त्रिक योगी इस अन्तर्यात्रा में आवश्यक ऊर्जा प्राप्त करने के लिए (१) षट्चक्रों का भेदन करके पञ्चभूतों पर विजय,(२) भूतशुद्धि,(३) कोशशुद्धि, (४) ग्रन्थिभेदन, (५) अजपा जप' मन्त्रयोग-हठयोग-लययोग एवं राजयोग की साधना भी करता है तथा मुख्यरूप से वह 'षट्चक्र भेदन की क्रिया द्वारा सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर शिव-शक्ति संयोग रूप 'सामरस्य 'प्राप्त करने की साधना करता है । इसी साधना-क्रम में उसे अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ एवं योग की अनन्त विभूतियाँ भी प्राप्त हो जाती है और चक्रेश्वरत्व प्राप्त करके स्वत: शिव बन जाता है।
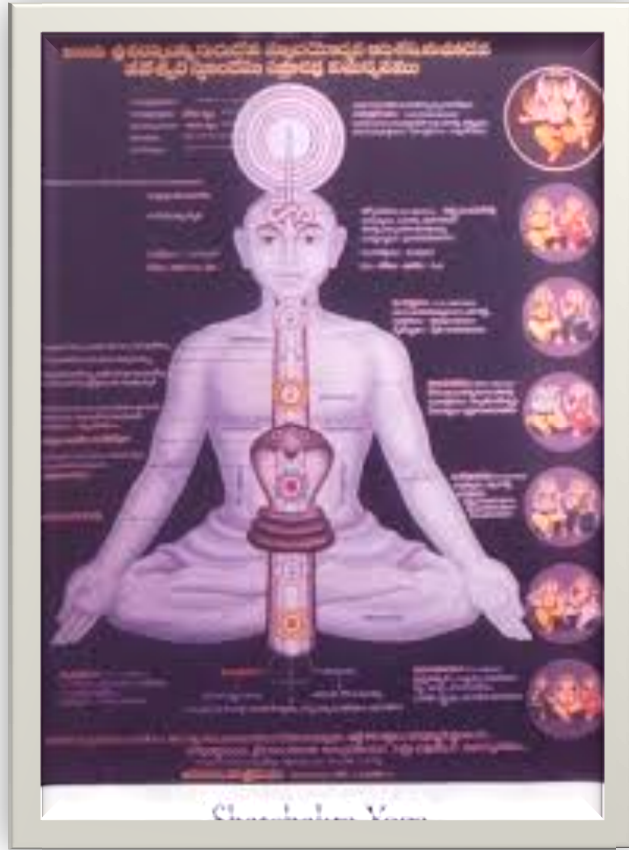
अनादि काल में जब जगत की सृष्टि नहीं हुई थी उस समय एक बार एक मार्ग पर दो यात्री मिले उनमें से एक यात्री अन्धा था और दूसरा लँगड़ा। अतः दोनों रास्ते पर चलने में असमर्थ थे। लँगड़े ने अन्धे से कहा कि यदि तुम मुझे अपने कन्धे पर बैठा लो तो मैं तुम्हें रास्ता दिखाता चलूँगा और तुम देख भी तो नहीं सकती किन्तु मार्ग पर चल सकती हो।

अतः तुम मार्ग पर चलती रहो और मैं तुम्हें चलने के लिए मार्ग दिखाता रहूँगा और इस प्रकार हम दोनों की यात्रा चलती रहेगी । हुआ यही । अन्धे ने लँगड़े को अपने कन्धे पर बैठा लिया । लँगड़ा अन्धे को अपने कन्धे पर बैठाकर मार्ग दिखाता रहा और अन्धा मार्ग पर चलता रहा। इसमें अन्धी तो नारी थी

और लँगड़ा व्यक्ति पुरुष था। यही अन्धी नारी प्रकृति है और यही लँगड़ा व्यक्ति पुरुष है । इन दोनों के पारस्परिक समझौते वाली दृष्टि ही सृष्टि- विकास की दार्शनिक दृष्टि है और इनका पारस्परिक सहयोग के साथ मार्ग पर चलना ही सृष्टि और सृष्टि विकास का व्यापार है । सांख्य और योग दोनों ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है और तन्त्रशास्त्र ही इस दृष्टि को स्वीकार करता है 'सांख्य'तन्त्र और योग तीनों इस यात्रा को अवरुद्ध करना चाहते है। इसीलिए प्रकृति-पुरुष में पृथकत्व कराना चाहते है। प्रकृति-पुरुष के वियोग को ही योग भी कहा गया है।

'पुरुष' का प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद विवेकज्ञानात्मक कैवल्य है और कैवल्यावस्था चितिशक्ति या द्रष्टा का स्वस्वरूपावस्थान रूप 'योग' है जो समस्त चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा प्राप्त होता है।

योग के द्वारा मोक्ष का स्परूप-

(१) तन्त्रशास्त्र : जीव-ब्रह्म-संयोग या कुण्डलिनी नामक वियुक्त नारी का वियुक्त

(परमशिव रूप) पुरुष से   मिलन कराना ही मोक्ष है।

(२) योगशास्त्र : एक साथ रहने वाले नारी-नर (प्रकृति-पुरुष) का वियोग कराना ही मोक्ष है। केवलत्व ही मोक्ष है।

'तन्त्रशास्त्र' योग की साधना पद्धति (अष्टाङ्गयोग एवं मन्त्रयोग हठयोग लययोग एवं (राजयोग) को तो स्वीकार करता है किन्तु 'सांख्य' एवं 'योग' के नर-नारी-

सम्बन्ध-विच्छेद (पुरुष-प्रकृति-वियोग) के सिद्धान्त को सर्वांशतः स्वीकार नहीं करता; क्योंकि

तन्त्र का लक्ष्य

(क) वियुक्ता एवं प्रोषित्पतिका नारी को उसके पति से मिलना है-मूलाधारस्थ शक्ति को जगाकर उसका अपने पति से 'सामरस्य'कराना है। वियोग कराना उसका लक्ष्य नहीं है ; क्योंकि वे तो अनादिकाल से स्वतः ही वियुक्त है।

(ख) सांख्य और योग का लक्ष्य- परस्पर मिले हुए दम्पति (पुरुष-प्रकृति) में वियोग कराना है।

(ग) तन्त्र का लक्ष्य है संयोग एवं समारस्य।

(घ) सांख्य एवं योग का लक्ष्य है पति-पत्नी का वियोग। यही मुक्ति की अवस्था है।

(क) तन्त्र मार्ग - शिव और उसकी शक्ति का सम्मिनल ही मुक्ति है।

(ख) सांख्य-योग-मार्ग -पुरुष-प्रकृति का वियोग ही मुक्ति है।

(ग) तन्त्र मार्ग- नारी (शक्ति) नर (शिव)से अविभाज्य है एवं अपृथक ् है अर्थात् शक्ति शिव की सामर्थ्य है- शक्ति शिव की पहचान है एवं शक्ति शिव की क्रिया है।

(घ) योग-सांख्य मार्ग- नारी प्रकृति निष्क्रिय पुरुष की क्रिया ही है किन्तु वह न तो पुरुष से अविभाज्य है और न उसका आत्मगत धर्म है। न तो वह चेतन है।

(ङ) तन्त्र की शक्ति (नारी तत्त्व)-शक्ति,नित्य,अक्षर,चेतन शिव के आन्तर क्षमता एवं धर्म है वह उससे अपृक ् है यथा अग्नि 'उष्णता से ,चन्द्रमा 'चन्द्रिका से और आकाश 'शब्द से । तन्त्र' की शक्ति एवं

शक्तिमान दोनों चेतन है, किन्तु सांख्य-योग की शक्ति अचेतन है और पुरुष चेतन है।

(च) तन्त्रमार्ग- चेतन शक्ति एवं चेतन शिव का मिलन।

(छ) सांख्य-योग मार्ग- अचेनत शक्ति एवं चेतन पुरुष का मिलन। दोनों राहगीर है। दोनों का मिलन आकस्मिक है दोनों का वियोग हो सकाता है। दोनों का वियोग होना भी चाहिए। दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है।

मृगेन्द्र तन्त्रकार की दृष्टि

१ विद्यापाद योगपाद,क्रियापाद,चर्यापाद

मृगेन्द्र तन्त्र में विद्यापाद २ क्रियापाद ३चर्यापाद और योगपाद नामक पादचतुष्टय गृहीत किये गये है। विद्यापाद में पति,पशु एवं पाश तीन पदार्थों की विवेचना की गयी है।

तदात्मवत्वं योगित्वं कहकर योगित्व की विवेचना की गयी है अैर यागेपाद में प्राणायाम,प्रत्याहार ,धारणा,ध्यान,समाधि आदि का विवेचन किया गया है।

समाधि को -तदेकता न तमेति स समाधिर्विधीयते’ द्वारा परिभाषित किया गया है। तन्त्र में भाव- तत्त्व को भी यथेष्ट महत्व दिया गया है।

भावतत्त्व और तन्त्र

‘भाव’ परमात्मा के प्रति अपनी भावनात्मक दृष्टि-भंगी की अपर आख्या है। यह एक मानस धर्म है।

कौलावलीतन्त्रकार की दृष्टि - ‘कौलावलीतन्त्र में कहा गया है कि -

भावस्तु मानसो धर्मः स हि शब्दः कथं भवेत्।

तस्माद् भावो न वक्तव्यो दङ्मायं समुदाहृतम्।

यथेक्षुगुड़माधुर्यं जिह्वया ज्ञायते सदा।।

तथा भावो विभावश्च मनसा परिभाव्यते।।

सारांस यह है कि भाव एक मानस धर्म है,अतः शब्द विवेच्य नहीं है। गुड़ एवं इक्षुरस के स्वाद को जिह्वा जानती तो है किन्तु उसका यथार्थ वर्णन नहीं कर पाती। इसी स्परूप का अकथ्य तत्त्व 'भाव' भी है।

एक ही 'महाभाव' उपाधिभेद या विषयभेद से या भक्ति-प्रेम-वात्सल्य आदि रूपों में विभक्त हो जाता है। भाव ही रसरूपी आत्मा है।

कौलावली तन्त्रकार की दृष्टि - कौलावली में कहा गया है कि कोई साधक कितना भी हवन करे,कितना भी जप तप करे और कितना भी शरीरिक कष्ट सहे किन्तु बिना भाव के तन्त्र के मन्त्र कभी फलीभूत नहीं होते -

'बहुजापात्तथा होमात् कायक्लेशादि विस्तरैः।

न भावेन विना चैव यन्त्रमन्त्राः फलप्रदाः।।[१]

रुद्रयामलकार की दृष्टि - मानव के शरीर तीन प्रकार के है- (१) उत्तम (२) मध्यम (३) अधम। अतः तदनुरूप साधना-प्रणाली भी विविध होनी चाहिए।

शरीरं त्रिविधं प्रोक्तं मुत्तमाधममध्यमम्।

तत्रैव त्रिविधं प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम।।

---

[१] कौ.नि.११उ.३-४

भावत्रय

१-पशुभाव २- वीरभाव ३- दिव्यभाव

तत्रैव त्रिविधं प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम।

इसी धरातल पर- (१) तामसिक साधकों के लिए 'भाव' (२) राजसिक साधकों के लिए-'वीरभाव' एवं (३) सात्विक साधकों के लिए 'दिव्यभाव' का विधान किया गया है।

रुद्रयामल' में कहा गया है-

शक्तिः प्रधानां भावानां त्रयाणां साधकस्य च।
दिव्यवीरपशुनाञ्च भावत्रयमुदाहृतम् ।।

भावों का पौर्वापर्य सम्बन्ध - 'रुद्रयामलतन्त्र में कहा गया है कि -

आदौभावं पशोः कृत्वा पश्चात्कुर्यादावश्यकम्।
वीरभावं महाभावं सर्वभावोत्तमोत्तमम्।।
तत्पश्चादतिसुन्दरम दिव्यभावं महाफलम्।।

रुद्रयामलतन्त्र यह भी मानता है कि सारे पुरुष पशु ही होते हैं। उनमें ज्ञानोदय के लिए 'वीरभाव' का उपदेश दिया गया है। वीरभाव से साधक देवता बन जाता है-

सर्वे च पशवः सन्ति तलवद् भूतले नराः।

तेषां ज्ञानप्रकाशाय वीरभावः प्रकाशितः।।

वीरभावं सदा प्राप्य क्रमेण देवता भवेत्।

(१) पशुभाव' -जहाँ द्वैतभाव है वहाँ 'पशुभाव' ही अन्तर्निहित होगा। जिस भी साधक में किञ्चिन मात्र भी अद्वैतज्ञान नहीं है वे अविद्यावरण से आच्छादित साधक पशु कहलाते हैं।

'पशु साधकों की दो श्रेणियाँ हैं-

(१) संसार के अज्ञानपाश से आबद्ध जीव -'अधम पशु' है।

(२) सत्कर्मपराण एवं भगवद् विश्वासी जीव -'उत्तम पशु' है।

वीरभाव 'जो साधक अद्वैतविज्ञानामृत के कण का आस्वादन करके अज्ञानपाश का निकृन्तन करते हुए ज्ञानमार्ग की ओर सतत अग्रपद हो रहे हैं वे 'वीर' हैं और वीरों का भाव 'वीरभाव' है। वीरभाव के साधकों की मानसिक अवस्था राजसिक है। ये साधक जागतिक पदार्थों को शिवशक्ति संयोग के रूप में ग्रहण करते है।

इससे द्वैतभाव स्वल्पांश में नष्ट हो जाता है। कौलावली तन्त्र

(३) दिव्यभाव- जो साधक वीरभाव की साधना कर सिद्धि को प्राप्त करता है वह द्वैतभाव को दूर करके परमात्मा और अपने में तद्रूपता को प्राप्त कर लेते हैं या अपनी सत्ता को परमात्मसत्ता में निमज्जित कर देते हैं और ब्राह्मीभाव में प्रतिष्ठित हो जाते हैं वे दिव्य साधक कहलाते हैं। उनकी भाव साधना दिव्यभाव कहलाती है। इसमें सत्वगुण का प्राचुर्य अन्तर्गर्भित होता है।

कौलावलीतन्त्रकार की दृष्टि - कौलावली तन्त्र में कहा गया है कि -

प्रथमं दिव्य भावस्तु कथ्यते तन्त्रवर्त्मना।

यद्वर्णं देवता यत्र तत्तेजः पुञ्जपूरितम्।।

तेजोमयं जगतसर्वं विभाव्य मूर्तिकल्पनम्।।[१]

तत्तन्मूर्तिमयैर्मन्त्रैः स्वेन स्वेनैव वा पुनः।

आत्मानं तन्मयं दृष्ट्वा सर्वं भावं तथैव च।।[२]

आम्नायवाद- तान्त्रिकों ने पञ्चाम्नायों को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हुए कहा है कि - पञ्चाम्नाय का अनुवर्तन ही मोक्ष का मार्ग है-

पूर्वश्च पश्चिमश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा।

ऊर्ध्वाम्नायाश्च पञ्चैते मोक्षमार्गाः प्रकीर्तिताः।।

---

[१] कौ.नि.उ.११/१०-११

[२] कौ.नि.उ.११/११-१२

आम्नायभेद : भगवान शिव के मुखों से प्रकट आम्नायों का वर्णन यथा-

(१) पूर्वाम्नाय (२) पश्चिमाम्नाय (३) दक्षिणाम्नाय (४) उत्तराम्नाय (५) ऊर्ध्वानाम्नाय (६) अधाम्नाय

कुलार्णवतन्त्र में ऊर्ध्वाम्नाय को विशेष महत्व प्रदान करते हुए कहा गया है कि-

ऊर्ध्वाम्नायं विजानाति यः कश्चित् श्रीगुरोर्मुखात्।
शास्त्रमार्गेणैव नरो जीवन्मुक्तो न संशयः।।
सर्वाम्नायाधिकफलमूर्ध्वाम्नायं परात्परम्।।
तस्मादेवेशि! जानीहि साक्षान्मोक्षैकसाधनम्।।

आचार तत्त्व और तन्त्र- तन्त्राचार्यों ने कहा है कि मानसिक वृत्तियों एवं सत्वादि गुणत्रय के आधार पर साधकों को वर्गीकृत किया गया है उन्हीं वर्गीकृत साधकों के आधार पर उनके लिए भिन्न-भिन्न आचारों का विधान किया गया है।

कौलावली तन्त्र में सात आचारों का वर्णन प्राप्त होता है-

१- सर्वोच्च आचार - वेदाचार्य

२-वेदाचार से श्रेष्ठतम आचार - वैष्णवाचार

३-वैष्णवाचार से श्रेष्ठतम आचार - शैवाचार

४- शैवाचार से श्रेष्ठतम आचार - दिक्षणाचार

५-दक्षिणाचार से श्रेष्ठतम आचार - सिद्धान्ताचार

६-सिद्धान्ताचार से श्रेष्ठतम आचार - कौलाचार

७- सर्वोच्च आचार कौलाचार ही है।

शाक्तमत के अनुसार ४ प्रधान आचार हैं- (१) वैदिक (२) वैष्णव (३) शैव (४) शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं- (१) वामाचार (२) दक्षिणाचार (३) सिद्धान्ताचार (४) कौलाचार।

शाक्ताचारों में श्रेष्ठता का क्रम-

(१) वामाचार से श्रेष्ठतर आचार - दक्षिणाचार

(२) दक्षिणाचार से श्रेष्ठतर आचार - कौलाचार

कौलमार्ग से 'अवधूतमार्ग' भी है।

तन्त्र मार्ग में श्रेष्ठतम आचार कौलाचार को ही स्वीकार किया जाता है।

आचार और तन्त्र

तन्त्रशास्त्र को भले ही स्वेच्छाचारी कहा जाय किन्तु तन्त्र में आचार की अपेक्षा नहीं की गयी है। प्रत्युत् उसे अत्यधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि-

आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं देवः साधकमूलकः।।

(१) जाति का मूल - आचार
(२) आचार का मूल - शास्त्र
(३) शास्त्र का मूल - वेदवाक्य

(४) साधक का मूल	-	देवता
(५) साधक का मूल	-	क्रिया
(६) क्रिया का मूल	-	कल
(७) कल का मूल	-	सुख
(८) सुख का मूल	-	आनन्द
(९) आनन्द का मूल	-	ज्ञान
(१०) ज्ञेय का मूल	-	ज्ञान
(११) तत्त्व का मूल	-	ज्ञेय
(१२) ब्रह्म का मूल	-	तत्त्व
(१३) ऐक्य का मूल	-	ब्रह्मज्ञान
(१४) सभी तत्त्वों का मूल	-	मूल ऐक्य

(१५) ऐक्य भावातीत पदार्थ है।

ब्रह्मज्ञानमैक्यमूलमैक्यं हि सर्वमूलकम्।
ऐक्यं हि परमेशानि भावातीतं सुनिश्चितम्।।[१]

वेदाचार

इस आचार के नियम निम्नलिखित है-

(१) वेदोक्त विधि से देव यजन।

(२) मत्स्यभक्षण का निषेध।

(३) स्त्री का मन से भी चिन्तन वर्जित।

(४) पर द्रव्य के प्रति लोभ का अभाव।

---

[१] सर्वोल्लस तन्त्र

(५) भोगों की पूर्ण उपेक्षा।

(६) सिन्धु,कानन, पर्वत, सुरालय, बिल्वमूल, एकान्तस्थान एवं सुन्दर पुण्यक्षेत्र में सुसामाहित चित्त द्वारा एवं शुद्धभाव से देव-ध्यान।

(७) शूद्रों के साक्षात्कार का बहिष्कार।

(८) कौटिल्य-त्याग।

(९) तीनों सन्ध्याओं में देवपूजन एवं जप।

(१०) रात्रि के समय माला एवं तन्त्र का कथमपि स्पर्श न करना।

(११) वीर कार्यों का वर्णन एवं गुरु निन्दा का त्याग करना चाहिए।[१]

वैष्णवाचार एवं उसका स्वरूप

वैष्णवाचार सप्ताचारों में द्वितीय आचार है। इसके लक्षण निम्नाङ्कित हैं-

(१) वेदाचार क्रम का अनुगमन करते हुए नियमों का पलन।

(२) मैथुन एवं तद्विषयक किसी भी चर्चा का सदैव परित्याग ।

(३) हिंसा,निन्दा, कुटिलता एवं मांस भोजन का त्याग।

(४) रात्रि के समय माला एवं यन्त्र के स्पर्श का त्याग।

(५) भगवान् विष्णु का सदा समर्थन एवं उन्हें सारे कर्मों का समर्पण।

---

[१] समयाचार तन्त्र

(६) निरन्तर 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' की भावना।

(३) शैवाचार और उसका स्वरूप

(१) वेदाचार क्रम शैव एवं शाक्त दोनों आचारों में मान्य है, किन्तु भेदक तत्त्व है-' पशु हिंसा' । शैवाचार में हिंसा भी विहित है।

(४) दक्षिणाचार और उसका स्परूप

(१) यह आचार दक्षिणामूर्ति मुनि द्वारा प्रवर्तित है।

(२) रात्रि में विजया ग्रहण करके जप का अनन्य मन से जप करना चाहिए।

(३) परमेश्वरी का पूजन वेदाचारक्रम से करना चाहिए।

(४) इसको वीर एवं दिव्य दोनों साधकों को ग्रहण करना चाहिए।

वामाचार और उसका स्वरूप

(१) वीरभाव स्थित साधकों को 'वामाचार ' ग्रहण करना चाहिए किन्तु पहले दक्षिणाचार एवं बाद में वामाचार का अभ्यास करना चाहिए।

(२) स्वधर्मनिरत होकर,पञ्चतत्त्वों के द्वारा,यथाविधि एवं भक्ति तथा आनन्द के साथ पर देवता की अर्चना करनी चाहिए।

(३) क्षिति-जल-तेज-वायु एवं आकाश के द्वारा, एवं विविध द्रव्यों के द्वारा,बाह्याभ्यन्तर भेद से पर देवता की अर्चना करनी चाहिए। साधक को चाहिए कि वह सदैव उद्यतमानस' रहकर पूजा करे।

(४) साधक एवं पूजा के साफल्य के लिए साधक को महोत्साही महावीर,स्वेष्टकार्य में तत्पर रहना चाहिए।

(५) इन तत्त्वों,विविध पुष्पों कुलसंभूत प्रसूनों के द्वारा अर्चना करते हुए साधक को साक्षात् शिव बनकर शिव कीपूजा करनी चाहिए। परमा प्रकृति की पूजा करनी चाहिए-

' साक्षाद् शिवमयो भूत्वां प्रकृतिं परमां भवेत् '।

(६) वामाचार अष्टपाशों से अतीत है। 'वामाचारः समाख्यातश्चाष्टपाशैर्विवर्जितः'।।

भाव यह है कि साधक अपने आप को अष्टपाशों से विमुक्त रखना चाहिए।

(७) साधक को चाहिए कि वह महामन्त्र की साधना द्वारा सदैव शौचभावों से युक्त रहे।

(८) यदि सिद्धान्ताचारनिरत साधक में दिव्य भाव का उदय हो जाय तो वह साधक 'कौलाचार'ग्रहण करने का अधिकारी हो जाता है अतः उसे कौलाचार ग्रहण करके उसका अभ्यास करना चाहिए।

(९) अपनी आत्मा को देवता स्वीकार करके नित्य,आगमविधान,सूक्ष्मतत्त्व एवं भाव के साथ उसकी पूजा करनी चाहिए-

'आत्मानं देवतां ज्ञात्वा यश्च नित्यं प्रपूजयेत्।

आगमेन विधानेन सूक्ष्मतत्त्वेन भावतः।।

सिद्धान्ताचार एवं उसका स्वरूप

(१) शम-दम का आश्रय ग्रहण करके तथा यागयुक्त होकर एवं शाक्ततन्त्रशास्त्र का अनुसरण करते हुए आचरण करना चाहिए।यही सिद्धान्ताचार है-

समं दमं समाश्रित्य यागयुक्तस्तथा किल।

सिद्धान्ताचार एवोक्तः स सदा शाक्ततन्त्रिभिः।।

(२) अपनी आत्मा में ही परतत्त्व की स्थिति मानकर तथा अपने को परमात्ममय समझकर और अपनी आत्मा के सत्स्वरूप को निरन्तर जानते हुए जीवन व्यतीत करते रहने से स्वात्मज्ञान का उन्मेष हो जाता है।

(३) ऐसा योगी जो कि इस भावसाधना के साथ युक्त रहकर एवं योगभाव का आलम्बन लेकर साधना करता है वह सालम्ब योगी है।[१]

कुलाचार एवं उसका स्वरूप

(१) जिस प्रकार बालक बड़े हो जाने पर माता का स्तनपान करना छोड़ देता है ठीक उसी प्रकार साधक को कर्मबाहुल्य का त्याग कर देना चाहिए और इस प्रकार कर्मकाण्डीय मार्ग से हटकर सत्वगुणों का आश्रय लेते हुए ज्ञानमार्ग में प्रवेश करना चाहिए।

शाक्त उपपुराणों में यन्त्र रचना प्रकार

[१] भावरहस्य अ.१२

तन्त्र पूजा का एक अन्य विशिष्ट विषय है यन्त्र (ज्यामितीय आकृति) जो कभी -कभी चक्र नाम से भी विख्यात है। यन्त्र का ाउल्लेख कुछ पुराणों में भी हुआ है और यत्र-तत्र आधुनिक प्रयोगों में भी इसकी चर्चा होती है। यह धातु,पत्थर,कागद, या किसी अन्य वस्तु पर खोदा हुआ या तक्षित या खींचा हुआ या रँगा हुआ होता है। यह मण्डल से मिलता-जुलता है,अन्तर यह है कि मण्डल का उपयोग किसी देवता की पूजा में होता है किन्तु यन्त्र का उपयोग किसी विशिष्ट देवता की पूजा या किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए होता है। कुलार्ण तन्त्र में आया है कि यन्त्र का विकास मन्त्र से हुआ है, और इसे मन्त्ररूपी देवता कहा गया है,यन्त्र पर पूजित देवता सहसा प्रसन्न हो जाता है(और अनुग्रह करता है)प्रेम एवं क्रोध नामक दोषों से उत्पन्न क्लेशों को दूर करता है अतः इसे यन्त्र कहा जाता है। यदि यन्त्रों में परमात्मा पूजित हो तो वह प्रसन्न हो जाता है।

काम-क्रोधादि दोषोत्थ सर्वदुःख नियन्त्रणात्।
यन्त्रमितहुरेतस्मिन् देवः प्रीणाति पूजिताः।।
यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं देवता मन्त्ररूपिणि।
मन्त्रे सा पूजिता देवी सहसैव प्रसीदति।।[१]

इसी तन्त्र में पुनः आया है कि यदि पूजा यन्त्र के बिना की जाय तो देवता प्रसन्न नहीं होता। **बिना यन्त्रेण पूजा चेद् देवता न प्रसीदति।**[२] यहाँ पर यन्त्र' शब्द यन्त्र् धातु से निकला कहा गया है। एक अन्य स्थान पर इसी तन्त्र में आया है कि 'यन्त्र' इसलिए कहाजाता है कि यह सदैव पूजक को यम (मृत्यु के

---
[१] कुलार्णव त.(६/८५-८६
[२] कुलार्णव १०/१०९

देवता) तथा अन्य भूतादि से बचाता है। रामपूर्वतापिनी उपनिषद् में आया है कि यन्त्र की व्यवस्था (या निर्माण) देवता का शरीर है जो सुरक्षा प्रदान करता है।

यमभूतादि सर्वेभ्यो भयेभ्योपि कुलेश्वरी।

त्रायते सततं चैव तस्माद्यन्त्रमिरीततम्।[1]

यन्त्र में य' यम तथा अन्य लोगों के लिए प्रयुक्त है,त्र' को त्रै'(या त्रा) से निष्पन्न माना गया है। कौलावली निर्णय में ऐसा कह गया है कि बिना यन्त्र के देवता की पूजा,बिना मांस के तर्पण,बिना शक्ति (पत्नी या कोई अन्य नारी जो साधक से सम्बन्धित हो) के मद्यपान ये सभी निष्फल होते हैं।

विना यन्त्रेण या पूजा विना मांसेन तर्पणम्।

विना शक्त्या तु यत्पानं तत्सर्व निष्फलं भवेत्।।[2]

साभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना।

विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति।।[3]

उपर्युक्त वचनों से यह स्पष्ट होता है कि यन्त्र वह तत्त्व है जिसके द्वारा क्रोध,प्रेम,आदि के कारण दोलायमान मन की गतियों पर नियन्त्रण किया जाता है और मन को उस चित्र या आकार पर लगया जात है जिसमें देवता को प्रतिष्ठापित किया जाता है। इससे मनोयोग होता है और देवता की मानसिक प्रत्यभिज्ञा होती है। देवता एवं यन्त्र का अन्तर वही है जो आत्मा एवं देह से है।

पद्मपुराण के पाताल खण्ड में आया है कि हरि (विष्णु) की पूजा शालग्राम शिला पर या रत्न पर या यन्त्र या मण्डल पर या प्रतिमाओं में हो सकती है,केवल मन्दिरों में नहीं।[1]

---

[1] रा.पू.उपनि.१७/६१

[2] कौलावली निर्णय ८/४१-४२

[3]रामपूर्वतापनीयोपनिषद् (१/१२)

अहिर्बुध्न्य संहिता में सुदर्शन यन्त्र की पूजा की विधि का वर्णन किया गया है जो राजा द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा समृद्धि के लिए की जाती है।[2]

ङङङङङ

[1] पद्मपुराण (पाताल खण्ड,७९/१)
[2] अहिर्बुध्न्य सं. (३६श्लो.५-६६)